युगसेतु

वर्ष : 1 अंक : 10 मार्च, 2012

संपादक
ओम प्रकाश शर्मा

संपादकीय सहयोग
अमरेश कुमार
उमेश प्रसाद सिंह
राजू कुमार
रमेश नारायण

प्रचार/प्रसार
नरेन्द्र कुमार सिंह

कार्यालय
जी-21, प्रथम तल, लक्ष्मी नगर,
दिल्ली-110092
दूरभाष-011-22040692

संपर्क
एन-33, भूतल, लक्ष्मी नगर,
दिल्ली-110092
दूरभाष-9013379808, 9650914297
वेब साइटः www.yugsetu.com
ई.मेल : yugsetu@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक और संपादक डॉ. ओम प्रकाश शर्मा द्वारा, जी 21, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92 से प्रकाशित एवं एना प्रिंट ओ ग्राफिक्स प्रा. लि. 347 के, उद्योग केन्द्र एक्सटेंशन II, सेक्टर-ईकोटेक-III, ग्रेटर नोएडा, गौतम बुद्ध नगर, उ.प्र. से मुद्रित।

अंदर के पन्नों में .....

होली के रंग लोकगीतों संग

8

आमोद का प्रतीक समन समज्जा

11

पूरकता पर आधारित है सृष्टि

14

प्रतिशोध नहीं है स्त्री विमर्श

16

कर्म कर्त्तव्य इति धर्मः

23

कालिदास का प्रेम निरीक्षण

25

होला एक पानी के मरद भोजपुरिया

29

आडवाणी नहीं तो मोदी सही

38

कुव्यवस्था के शिकार मेट्रो स्टेशन

45

मोबाइल सेवा प्रदाताओं की धोखाधड़ी

47

कुल पृष्ठ आवरण सहित 52

युग सेतु में लेखकों के प्रकाशित आलेखों के विचारों से संपादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। किसी भी विवाद का निबटारा दिल्ली न्यायालय में होगा।

लोक मंच

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानी 'कानों में कंगना' हिन्दी की श्रेष्ठतम प्रेम कहानी है। प्रेम पर गद्य और पद्य में सभी भाषाओं में लिखा गया है। साहित्य जिस जीवन की आलोचना करता है, वह प्रेम के साथ ही पूर्ण होता है। सुरम्य वातावरण में कली सदृश खिली किरण का यौवन किसी भी बाँधने वाली सत्ता को चुनौती देता है, फिर भी अपने प्रेमी के साथ वह दाम्पत्य के पाश में बँधती है। ऐसा बंधन प्रेम को संकुचित नहीं बनाता, अपितु अतिविस्तृत क्षेत्र को अपने में समेट लेता है। प्रेमी वही है जो जीते जी या मरकर भी अपने को न तो कलंकित होने देता है और न दूसरों को कलंकित करता है। भारतीय जीवन पद्धति में दाम्पत्य पवित्र और सशक्त मेरूदंड है, जिससे निकल कर क्षणिक सुख तो मिल सकता है, ऐसा सुख दीर्घकालिक नहीं हो सकता।

किरण प्रकृति की निर्मुक्त गोद से संसार के जटिल जाल में बँधती है। अलौकिक भोलापन और निसर्ग उच्छ्वास वाली किरण जब दाम्पत्य के साँचे में नए रूप में उपस्थित होती है, तब उसका एक अलग-सा सौन्दर्य सामने आता है। ऐसा कि उसे पहचानना तक मुश्किल है। उसका हृदय प्रसन्न और संतुष्ट है, अत: बाहरी चेष्टाओं पर भी उसका प्रतिबिम्ब दिखता है। लेकिन उसको बंधन-पाश में बाँधने वाला स्वयं उससे बँधकर नहीं रह पाता, यह विद्रूपता है। उसकी आँखें तब खुलती हैं, जब सब कुछ खत्म हो चुका होता है। समाज में ऐसे तत्त्व सदैव अपनी चालबाजियाँ दिखाते रहते हैं, जिनसे किसी और का घर-परिवार खत्म हो जाए। ये लोग मंथरा और सूर्पणखा सदृश भूमिका निभाते हैं। आधुनिक समाज की यह बड़ी समस्या है कि दाम्पत्य वाला आधार कमजोर हो रहा है। इसके लिए कहीं पुरुष जिम्मेवार है तो कहीं स्त्री; परंतु नुकसान दोनों का ही हो रहा है।

मधुसूदन शर्मा, छपरा, बिहार

हिन्दी को नजरअंदाज करना समाज में जाने-अनजाने शौक बनता जा रहा है। दिल्ली की आधुनिक उपलब्धियों में शुमार दिल्ली मेट्रो भी हिन्दी की उपेक्षा करने वाले रोग से ग्रस्त है। यद्यपि मेट्रो का कुछ काम हिन्दी-अंग्रेजी दोनों में होता है, तथापि बहुत-सारे काम सिर्फ अंग्रेजी में होते हैं। मेट्रो का एक स्टेशन 'यमुना बैंक' है। अंग्रेजी शब्द में बैंक का अर्थ मिट्टी का टीला, ढलान, किनारा, नदी, रेल पटरी आदि होता है, लेकिन बैंक का जो सुबोध सुलभ अर्थ है, वह तिजोरी या गुल्लक है। इससे अधिक स्वयं बैंक शब्द इतना प्रचलित है कि अनपढ़-गँवार सब इसे भलीभाँति समझते हैं सिवाय इसके किसी अन्य पयार्य के। अभारतीय मानसिकता में पले-बढ़े अधिकारियों-नेताओं ने स्टेशन का नाम यमुना बैंक रख दिया है। कम पढ़े-लिखे लोग जो दिल्ली में नए-नए आए होते हैं वे यही समझते हैं कि रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक की तरह यह भी कोई बैंक ही है। यदि इसका नाम यमुना किनारे, यमुना तीरे, यमुना कछारे रखा जाता, तो यह जन साधारण लोगों द्वारा ठीक ढंग से समझा जाता। भारतीय संस्कृति की उस गौरवमयी परम्परा का यह नाम वाहक भी होता, जिसमें यमुना को सूर्य की बेटी माना जाता है। इसी यमुना नदी के तट के कदम्ब के पेड़ पर भगवान कृष्ण द्वारा बाँसुरी बजाकर मनोरंजन करने की बात हम सबने पढ़ी-सुनी है।

अत: दिल्ली की मुख्यमंत्री एवं मेट्रो के अधिकारियों से अनुरोध है कि उक्त स्टेशन का नाम परिवर्तित कर यमुना तीरे, यमुना किनारे, यमुना कछारे या यमुना तट रखा जाए।

ज्योत्स्ना मलिक, नोएडा, उ.प्र.

चुनाव के संदर्भ में प्रेम पर आपने बहुत ही व्यावहारिक व सार्थक टिप्पणी की है। प्रेम की कोई सीमा नहीं होती है। प्रेम कोई बंधन बर्दाश्त भी नहीं कर पाता। लेकिन इस असीम प्रेम को भी ससीम करना पड़ता है। यह प्रेम की अनंतता वाली विशेषताओं के अनुरूप तो नहीं होता; परंतु सामाजिक हित की दृष्टि से युक्तियुक्त होता है। वस्तुत: यह भी एक प्रकार का उदार प्रेम ही है, जहाँ प्रेम में सिर्फ अपने सुख-आनंद की कामना उपस्थित नहीं रहती, अपितु समाज के सुव्यवस्थित संचालन के साथ सबके कल्याण का उदात्त भाव सन्निहित होता है। यह प्रेम सिर्फ अपना भला नहीं चाहता, बल्कि दुनिया की भलाई चाहता है। सब कुछ अपने लिए चाहना स्वार्थ है। लेकिन इस प्रेम की सीमा का भी आजकल अतिक्रमण हो रहा है। जाति, क्षेत्र, खाप, पंचायत, प्रशासन का अनैतिक गैर-कानूनी हस्तक्षेप उचित नहीं और न ही जोर-जबर्दस्ती, छल-छद्म आदि की जरूरत है। व्यक्ति अपने प्रेम-पात्र का चुनाव स्वयं करे, लेकिन यह चुनाव भी एकतरफा नहीं होनी चाहिए। एकतरफा प्रेम प्रेम नहीं होता।

सौरभ कुमार, बिहार शरीफ, बिहार

उमा भारती उत्तर प्रदेश विधान सभा का चुनाव लड़ रही हैं। देश का नागरिक उस क्षेत्र से चुनाव लड़ सकता है, जिस प्रांत का वह मतदाता है। लोकसभा चुनाव कोई भी कहीं से लड़ सकता है, अब राज्यसभा के लिए भी यही स्थिति हो गई है। पहले राज्यसभा चुनाव में उतरने के लिए उस राज्य का मतदाता होना जरूरी था, अब कहीं का मतदाता कहीं से भी राज्यसभा का चुनाव लड़ सकता है। लेकिन जब ऐसा नियम नहीं था, तब उस राज्य के मतदाता बन कर वे लोग राज्यसभा में पहुँच जाते थे, जो किसी दूसरे प्रदेश के धाकड़ नेता की छवि रखते थे। उनकी पहचान अपने कार्यक्षेत्र वाले प्रांत से होती थी। कई नेता जिनकी पहचान राष्ट्रीय नेता के रूप में ही थी, फिर भी 'उनके प्रांत' से सब परिचित थे। वे सदस्यता के लिए किसी और राज्य के मतदाता बन जाते थे।

आम जनता जब अपना नाम दर्ज करवाने जाती है तो उससे आवास के प्रमाण का सत्यापन कराया जाता है, प्रमाण-पत्र की प्रतिलिपि माँगी जाती है, लेकिन विशेष लोग आसानी से मतदाता बन जाते हैं। उनके इस कार्य में कुछ फर्जीवाड़ा भी शामिल होता है, लेकिन चूँकि ऐसे कार्यों में सारे दल के नेता लाभान्वित होते हैं। अत: इस पर कोई उँगुली नहीं उठाता।

राज्य सभा राज्यों का प्रतिनिधिमंडल है। प्रत्येक राज्य को उसकी जनसंख्या के हिसाब से अपने प्रतिनिधि भेजने होते हैं। किसी अन्य राज्य का मतदाता यदि बड़े लक्ष्य को लेकर बना जाए तो उसका स्वागत होना चाहिए, लेकिन विशुद्ध सदस्यता के लोभ में ऐसा करना ठीक नहीं है। नए नियम द्वारा एक अच्छी बात यह हुई है कि फर्जीवाड़े और पाखण्ड की जगह खत्म हो गई है।

ऐसा बहुत पहले से होता रहा है कि मूलत: किसी राज्य का निवासी दूसरे राज्य के शीर्ष राजनीतिक पद पर रहा है, ऐसा उस राज्य को अपना कार्य-क्षेत्र बनाने के कारण हुआ है। मूलत: उ.प्र. के बाबूलाल गौर मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री रह चुके हैं और इसमें कोई बुराई नहीं है। एक प्रदेश के नेता दूसरे प्रदेशों से लोकसभा, राज्यसभा का चुनाव लड़ते रहे हैं और 'बाहरी' के ठप्पे के बावजूद चुनाव जीतते रहे हैं। ऐसा प्रयोग प्राय: पार्टियों ने किया भी है और दूसरे दल के ऐसे प्रयासों को 'बाहरी कहकर आलोचना भी की है। दलों के राज्य प्रमुख भी दूसरे राज्य के मूल वाले बनते रहे हैं, विधायक और मंत्री भी, लेकिन एक राज्य का मुख्यमंत्री रह जाने के बाद दूसरे राज्य की विधान-सभा का चुनाव लड़ना थोड़ा विचित्र लगता है। मुख्यमंत्री प्रांतीय हितों का सर्वोच्च संरक्षक होता है। राज्यों के आपसी हितों की टकराहट में उसकी भूमिका जटिल हो सकती है। इसलिए राज्य की राजनीति में स्थानांतरण अच्छी बात नहीं है। इससे स्थानीय नेतृत्व उभरना मुश्किल है।

चन्द्रिका ठाकुर, विकासपुरी, दिल्ली

भावना व्यास की छह पंक्तियों वाली छोटी कविता 'फर्क' में रिक्तता और निजता पर ही कविता का मूल भाव केन्द्रित है। किसी व्यक्ति के रहने पर उसके होने के महत्त्व का एहसास कम होता है; परंतु जब वह नहीं रहता, तो उसकी अनुपस्थिति यानी उसके न होने का एहसास गहरा हो जाता है। उसकी अनुपस्थिति की उपस्थिति ज्यादा मार्मिक होती है। जयपुर साहित्य महोत्सव में सलमान रुश्दी की अनुपस्थिति भी प्रभावपूर्ण रही। जितना वे उपस्थित होकर चर्चित नहीं हो पाते, उससे अधिक ख्याति उन्हें अनुपस्थिति में मिली। जो चीज चौबीसों घंटे साथ रहती है, वह इतनी आसान होती है कि उसका हम आदर नहीं करते। उसका चुंबकत्व कम हो जाता है। उसकी असल शक्ति का पता ही तब चलता है जब वह दूर हो जाती है। इसलिए प्रेम में संयोग से अधिक वियोग का महत्त्व है, क्योंकि संयोग में आलंबन नजदीक रहकर भी कुछ दूरी पर रहता है, लेकिन वियोग में तो उसकी अनुभूति हमेशा साथ और पास रहती है।

सुनील राय, इंदौर, मध्य प्रदेश

रघुनंदन प्रसाद तिवारी की कहानी 'नदी के पार' आधुनिक भाव-बोध की कहानी है। तारा और मिट्ठू की कहानी भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रेमी-प्रेमिकाओं के चोरी-छुपे मिलने, फँसने और पाबंदी की कहानी है। मिट्ठू का कथन कि 'साब, हमारी कोई गलती नहीं है, हमारी जगह आप होते तो आप भी वही करते, जो मैंने किया है' –प्रेम पर अपूर्व विश्वास और प्रेमी की जीवटता का जीवंत उद्घोष है। शहरों में ही नहीं, गाँव-देहातों में भी ऐसा प्रेम-प्रसंग चलता है, फिर भी इसे सामाजिक मान्यता नहीं है। इसलिए प्रेम से संबंधित समस्याएँ खड़ी होती हैं। प्रेम करने वाले को फँसाया जाता है, उनका शोषण किया जाता है और उनकी हत्या भी कर दी जाती है।

मुकेश, जोधपुर, राजस्थान

वरिष्ठ पत्रकार एवं हमारे सहयोगी मित्र राकेश जी के पिता श्री कृष्ण कुमार का देहांत गत दिनों हो गया। वे गाँधी शांति प्रतिष्ठान एवं लोकसेवक मंडल, कानपुर नगर के अध्यक्ष थे। युगसेतु की ओर से उनको भावभीनी श्रद्धाँजलि।

पाठकगण

पत्रिका के संबंध में किसी भी तरह के सुझाव, विचार, प्रतिक्रिया आदि दूरभाष और ईमेल आईडी पर भी भेज सकते हैं।

संपादक

सत्यांश

कुछ ही दिनों पूर्व 'शुक्रवार' के संपादकीय में विष्णु नागर जी की टिप्पणी पढ़ी थी कि उन्हें अक्सर उलझन हो जाती है कि किस विषय पर संपादकीय लिखें और किस पर न लिखें। इस झंझट को सुलझाने में काफी माथा-पच्ची करनी पड़ती है। लेकिन यह स्वाभाविक है, जिससे गुजर कर ही मूल विषय तक पहुँचा जा सकता है। अपनी समस्या इसी से जुड़ी हुई, पर दूसरी है। जब भी कुछ लिखना होता है, तो बीच में अपनी उलझन सामने आ जाती है। उसमें भी बाहरी तत्त्वों द्वारा जानबूझकर किसी खास दिशा में सोचने के लिए बाध्य की गई की मात्रा अधिक होती है। ऐसा उन लोगों के साथ अधिक होता है जो स्वयं सामाजिक-प्रशासनिक विग्रहों और भ्रष्टाचार के शिकार होते हैं। ऐसे लोगों के लिए भ्रष्टाचरण, पाखंड और ब्लेकमेलिंग से लड़ना दुनिया को इन बुराइयों से मुक्त कराने का प्रयास बाद में होता है, अपने को इन बुराइयों से निकालना पहली प्राथमिकता होती है। जो व्यक्ति खुद भ्रष्टाचारी हो अथवा भ्रष्टाचार, प्रशासनिक काहिली और वर्गीय जातीय षड्यंत्रों का स्वयं शिकार हो– वह समाज से इन्हें भगाने में कैसे सफल हो सकता है? क्या इसलिए ऐसा सोच सकता है कि समाज पाखंडों-भ्रष्टाचारों से दूर होगा, तो व्यक्ति का दुख दर्द भी कम होगा।

बृहत् समाज में स्थानीय से लेकर वैश्विक स्तर तक सद् के साथ असद् प्रवृत्ति सदैव थोड़ी-बहुत मात्रा में विद्यमान रहती है। अतः सामाजिक शुचिता की संभावना कम दिखती है, व्यक्तिगत स्वच्छता की अपेक्षा। फिर समष्टि का व्यापक परिवर्तन भी इतना आसान कहाँ है? इसलिए यही व्यावहारिक भी है कि सर्वप्रथम अपने स्तर पर इन चीजों का प्रतिरोध और प्रतिकार किया जाए और विरोधी शक्तियों को माकूल जवाब दिया जाए, चाहे वे लाइसेंसी गुंडे हो या किराए के टट्टू। निश्चित रूप से इन दोनों के दकियानूसी समाधान का विचार और 'भीड़ के भेड़-बल' ने व्यक्ति और समाज को रसातल में पहुँचाने का काम किया है। किसी का कोई वास्तविक भला करना इनकी मनःस्थिति से बाहर की चीज है।

जो आदमी खुद समस्यागस्त हो, वह सामाजिक दुनिया का दीपक कैसे बन सकता है? बन सकता है। कुछ लोगों ने इसमें सफलता भी पाई है। स्वयं वितण्डावादियों से लड़ते हुए ही सामाजिक विद्रोह का रूप दिया। किसी सुपरिवर्तन के लिए सर्वप्रथम स्वयं की आवाज मुखर करनी पड़ती है। दुनिया को भ्रष्टाचार रोकने के लिए कहने से पूर्व अपने को भ्रष्ट होने से बचाना जरूरी है। भ्रष्ट और अनाचारी ताकतें अपनी जड़ जमाने के लिए स्वयं सामने कम ही आती हैं, पैसे व पद के दम पर किराये के अपराधियों और लाइसेंसी गुंडों की मदद से अपने काम को अंजाम देती हैं। ये ऐसे तत्त्व हैं जिनके पैर-दिमाग समतुल्य होते हैं। ऐसे तत्त्वों से टकराने का मौका गाहे-बेगाहे मिलता रहता है। कार्यालय हो या गली-रास्ते, विचार-गोष्ठियाँ हों या बाजार, घर हो या पुस्तकालय अथवा मेट्रो हो या ट्रेन- सदैव पीछे-आगे लगे रहते हैं। किराए के टट्टू जो हैं, 'शुभचिंता' दिखाकर अहित करना इनका धंधा है। अपने कुकृत्य, नौटंकी और व्यवहार को इस तरह अंजाम देते हैं, जिसमें इनका तंत्र-मंत्र और 'संख्या-बल का विवेक' बोलता है।

हालाँकि एक बड़ा बौद्धिक वर्ग इस बात पर चिंतित रहता है कि जब भी कुछ लिखना होता है तो कुछ लोग व वर्ग अपना लेकर बैठ जाते हैं। सारे समाज को हम अपना मानें, लेकिन जो 'अपना' है, उसे अपना न मानें; परकाया प्रवेश तो करें, पर स्वकाया प्रवेश नहीं। बिना स्वकाया प्रवेश के परकाया प्रवेश कैसे संभव हो– यह रास्ता नहीं बताया जाता। 'सामाजिक यथार्थ' को सामने रखें, पर 'आत्म-सत्य' से दूर रहें। परंतु सच यह है कि 'आत्म-सत्य' से परे समाज-राष्ट्र के सत्य का कोई पता नहीं पा सकता। व्यक्ति विशेष पर आरोपित संकट जब क्षुब्ध करने वाला होता है, तो वह आत्म सत्य के प्रकटीकरण पर उतर आता है, जैसा कि सामान्य स्थिति में नहीं कर पाता। कबीर, तुलसी, निराला, मुक्तिबोध, जयप्रकाश कर्दम, शरण कुमार लिंबाले, तसलीमा नसरीन और कृष्णा अग्निहोत्री सबका आत्म-सत्य सामाजिक सत्य पर भारी पड़ता है, क्योंकि इनके यहाँ पाखंड या ढोंग नहीं है, वरन् अपनी आत्मिक वाणी के विश्वास की वह चमक और धमक है, जहाँ साधारणतः 'संतुष्ट' संस्कृतिकर्मी व रचनाकार पहुँच नहीं पाते। इसी प्रकार की आत्म-व्यथा का चित्रण तो दलित साहित्य और स्त्री लेखन में हुआ है। यहाँ कहीं यदि समर्पण है, तो वह आत्मपीड़न की स्वीकृति

ही दिखती है और विद्रोह दबावस्वरूप बने बनाए 'आत्म' के प्रति ही पहला द्रोह है।

जब पददलित वर्ग कलम चलाने को आगे बढ़ता है, तो सर्वप्रथम उसकी अपनी समस्याओं, पीड़ाओं, दुखों व सघर्षों की थाती पास होती है। अपने से विलग वह न तो समाज को देख पाता है और न धर्म, संस्कृति, अध्यात्म को। अपने से परे जाकर इन्हें देखने की जरूरत ही क्या है? 'अपना' न देखें तो 'दूसरे' का क्यों देखें? उत्तर जटिल है कि अपने से परे जाकर कोई दूसरे को देख-समझ सकता है क्या? बेशक अपना शोकगीत ही क्यों न हो, लेकिन दूसरे के आनंदगीत गाने के पाखंड से तो बेहतर ही है, क्योंकि इसमें अपनापन की सच्चाई तो है ही। यह सामने आता है, तो दूसरे की पोल खुलती है। जिसकी पोल खुलती है, वह इसे दबाना चाहता है। इसी दबाते रहने में, उसके धतकर्मों का राज छुपा होता है। इस व्यक्तिगत व्यथा-कथा पर 'साहित्य की निर्वैयक्तिकता' की दृष्टि से प्रश्न-चिन्ह लगाया जाता है, तथापि यह तो यही हुआ न कि 'आग में जलते रहो और राम-राम कहते रहो।' इसलिए यह द्रोह जरूरी है, क्योंकि पोंगा-पंथी वाली ढोंगी परम्परा ने हित बताकर अहित किया है। ऐसी क्षुद्र मानसिकता वाली परंपरा बाहर से छूतवाद चलाती है, लेकिन अंदर से नष्ट करने का बीड़ा उठाए रखती है। यह अंधश्रद्धा, पाखंड, नौटंकी और कुकृत्यों की परम्परा है। इसमें जो पिसा है, उसी ने इसकी कलई खोली है। वेदना की ऐसी अनन्यता ही विशिष्टता प्रदान करती है। इसलिए चाहे दलित हों या स्त्री, वे सहानुभूति वह भी मिलावटी, दिखावटी व झूठी नहीं चाहते। 'सहानुभूति' की बजाय उनका भरोसा 'अनुभूति' पर अधिक है। यही उनके रचना-धर्म का प्राणतत्त्व भी है। यही उनके साहित्य को अप्रतिम विश्वसनीयता प्रदान करता है। ये आगाह करते हैं, सहानुभूति के नाम पर उस उछल-कपट से, जो मौका मिलते ही अपने षड्यंत्रों को अंजाम दे देता है।

सत्य, शिव एवं सुंदर वाले साहित्य में आत्म-सत्य अपने प्रति वर्गीय, जातीय, सामाजिक रवैये से आँखें नहीं मूँद सकता। यह साफ और सीधा सवाल खड़ा करता है कि जिस साहित्यिक, सामाजिक और शासकीय चेतना ने हमारी अस्मिता को कुचला है, घूँट-घूँट कर तड़पने के लिए बाध्य किया है। वाजिब हकों की कौन कहे, उचित मानवीय वैधानिक माँगों तक को नकारा है, उसकी गैर वाजिब, अमानवीय और गैर कानूनी माँगों और कार्रवाइयों को हम क्यों सहन करें? क्या इसलिए कि ऐसा करने-करवाने वाले सत्ताधारी, पदधारी और धनधारी हैं, अथवा इन्होंने बुद्धि-विवेक वाली चेतना का पेटेंट करा लिया है। खुश होकर हमारी तरफ कुछ फेंक देंगे अथवा रूष्ट होकर सर्व सत्यानाश कर देंगे? इन प्रश्नों से टकराने की लालसा ही इस लेखन का मुख्य स्वर है, जहाँ 'सर्वमंगल' का पाठ पढ़कर 'आत्ममंगल' से विच्छिन्न होने का ककहरा नहीं सिखाया जाता।

सच्चा चेतनशील व्यक्ति दूसरे की चेतना को गुलाम बनाने या नष्ट करने का काम कभी नहीं कर सकता। जो खुद तो बहुत कुछ होकर भी चेतना से कोसों दूर है, येन-केन प्रकारेण कुछ हथिया लेने और अपनी सत्ता अक्षुण्ण रखने की सीमित चेतना तक तत्पर है, वही ऐसा काम करता है। जिसकी खोपड़ी बंद है, वह दूसरे के दिमाग की खुली चेतना को कैसे बर्दाश्त कर सकता है? इसीलिए ऐसे प्रश्न एक व्यक्ति के नहीं, सरकार, प्रशासन, न्यायिक क्षेत्र, समाज और जातीय चेतना की क्रूरता से जुड़े हैं। यह अलग बात है कि यह 'क्रूरता' भी कभी माधुर्य भाव से युक्त होती है, तो कभी शृंगार रस से अनुप्रेरित। कभी जुगुप्ता वाली होती है तो कभी वीभत्स रूप में; परंतु विशेष बात यह है कि हर जगह इसे साफ-सुथरे ढंग से नौंटकीनुमा अनुशासन का जामा पहनाया जाता है।

ऐसे अनुशासन के आवरणों के भीतर न जाने कितने लोगों की घुटन, कुंठा, तनाव आदि मौजूद होते हैं। इनमें हर वर्ग-क्षेत्र के लोग शामिल हैं। कोई इसे कहता है और कोई नहीं कह पाता। ऐसे पाखंडों और दिखावटी कारनामों में सड़न बहुतायात में विद्यमान है और इस 'सड़न की सुगंध' में कुछ लोग मदमस्त हैं, बम-बम हैं, यह उनके लिए गंगास्नान के समान है। फिर भी किसी भी व्यक्ति के दर्द और समस्याओं को कम करके नहीं आँका जा सकता। इनका ब्लेकमेलिंग और सामंती हठ वाला समाधान ढूंढ़ने की बजाय वैधानिक और नैतिक समाधान खोजना होगा।

अंत में, इस बार के अंक में अपने मित्र शाहिद रहीम का आलेख युगसेतु में सम्मिलित किया गया है। गंभीर बीमारी से ग्रस्त होने के कारण दिल्ली के बी.एल. कपूर अस्पताल से अभी-अभी इसे उन्होंने भिजवाया है। वे संघर्षशील और स्वाभिमानी लेखक हैं और अध्येता भी। उन्होंने आईसीयू से निकलने के तुरंत बाद आशा और निराशा के द्वन्द्व में जो कुछ लिख कर भेजा है, उसे उसी रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। कुछ शब्द उन्होंने युगसेतु के बारे में लिखे हैं। सामान्यत: ऐसे प्रशंसक कथनों को हटा दिया जाता है, लेकिन उनकी भावनाओं को देखते हुए उन शब्दों को भी ज्यों का त्यों रखा गया है। उन्होंने दूरभाष पर जल्दी में लिखे इस आलेख का लेखन-प्रकाशन अपनी अंतिम इच्छा कहा, पर हम ऐसा नहीं मानते...। ☆

चुनाव लोकतंत्र का महापर्व क्यों है?

❐ ओम प्रकाश शर्मा

इस समय उत्तर प्रदेश में विधानसभा चुनाव चल रहा है। इसलिए चुनाव से जुड़ी यादें ताजी हो रही हैं। चुनाव के समय आम से लेकर खास लोगों तक की चहलकदमी बढ़ जाती है। चुनाव जितना 'स्थानीय' होता है, उतनी ही आम लोगों की दिलचस्पी अधिक होती है। इसका सीधा कारण यह होता है कि चुनावी मैदान में उतरे उम्मीदवार चाहे राजनीतिक दलों के हों या निर्दलीय, आमतौर पर स्थानीय-क्षेत्रीय स्तर के होते हैं। इनके कार्यकलापों से लोग भलीभाँति परिचित होते हैं। कटुता और वैमनस्य तक की स्थिति भी इसीलिए आती है, क्योंकि प्रत्याशी भी एक दूसरे के काफी 'नजदीक' के होते हैं। अनेक बार एक गाँव-मुहल्ले के होते हैं, तो कई बार अड़ोस-पड़ोस के ही और कुछ-एक बार तो एक ही परिवार के भाई-भाई या पति-पत्नी आदि-आदि। ऐसे में चुनाव रोचक हो जाता है। उम्मीदवारों के लिए अपने-अपने पक्ष में लोगों को रखने की चुनौती होती है। समर्थकों व विरोधियों पर निगाह भी पैनी होती है। अत: वह बड़े चुनावों की तरह हर प्रत्याशी को खुश रखने का प्रयास करते हुए अंदर से किसी और के लिए काम नहीं कर सकता। उसका समर्थन या विरोध संबंधित पक्षों द्वारा नोट किया जाता है, उसकी वफादारी पर तीखी नजर रहती है। इसलिए ऐसे चुनाव में कटुता का वातावरण भी अधिक दिखता है।

राजनीतिक दलों के लिए चुनाव खास मायने रखता है, क्योंकि यह स्थानीय लोगों से सीधे जुड़ने और उनको जोड़ने का सुनहला मौका होता है। ग्रास-रूट स्तर के कार्य एवं जमीनी हकीकत से रूबरू कराने वाली परीक्षा की यह घड़ी होती है और यह वक्त स्थानीय स्तर के कार्यकर्त्ताओं को पहचानने के लिए भी अच्छा अवसर होता है। चुनाव कार्यकर्त्ताओं को अपनी भूमिका बदलने, स्तर उठाने, आगे बढ़ने और अपनी कार्यक्षमता साबित करने का भी मौका देता है। इस समय अनेक नए कार्यकर्त्ता तैयार होते है, पुरानों की परीक्षा होती है, अनेक पार्टी में आते हैं और कई पार्टी छोड़ जाते हैं। इसलिए चुनाव में दलों-कार्यकर्त्ताओं की ओवर ऑयलिंग, यानी साफ-सफाई हो जाती है, दलों में गतिशीलता और पार्टीजनों में जोश आ जाता है। परम्परागत पोलिंग एजेंटों की बहार आती है, तो बरसाती मेढ़कों की भाँति रहने वाले निठल्ले लोगों के लिए इस चुनावी पर्व में कुछ कमाने-खाने का भी रास्ता निकल जाता है। दबंग लोगों-अपराधियों की पूछ बढ़ जाती है, वोट के दलाल भी वोटों की सौदागिरी करने लगते हैं, शराब के ठेके पर आवक बढ़ जाती है। शादी-विवाह वाले उत्सव में नेताओं का आगमन भी सुनियोजित और अप्रत्याशित दोनों रूपों में होता है। कई बार उम्मीदवार बिनबुलाये भी आते हैं और कई-कई दलों के एक साथ, लेकिन सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में उत्सवों में भागीदारी के लिए गाड़ियों के टोटे पड़ जाते हैं, क्योंकि चुनाव ड्यूटी के लिए गाड़ियों को पकड़ने का काम जोरों पर चलता है।

हम सब ने थोड़ी-बहुत मात्रा में अनुभव जरूर किया होगा कि जिस लोकतंत्र की दुहाई देते नहीं थका जाता, वह कुछ अच्छे-बुरे संदर्भों के साथ-साथ भी इसी चुनावी मौसम में सार्थक दिखता है। बड़े नेता, उम्मीदवार व सभ्रांत लोग इस समय आपके आस-पास चक्कर काटते दिखते

क्या वही यह शख्स है, जिसकी छवि हमारे मन-मानस में बैठी हुई थी। देखकर कई बार निराशा भी होती है और अनेक बार आशा भी जगती है। होता यह है कि कोई-कोई अपनी तस्वीर में बहुत अच्छा दिखता है, पर उसका साक्षात चेहरा उतना आकर्षक नहीं लगता, फलतः हमारी भावना को यहाँ ठेस लगती है। वहीं कई बार किसी-किसी की तस्वीर तो अच्छी नहीं होती, पर वह स्वयं आकर्षक दिखता है, ऐसे में पहले से जमा आकर्षण भाव में बढ़ोतरी होती है। हम उस तकनीक की बात यहाँ नहीं कर रहे, जो 'बदसूरत' को 'खूबसूरत' और 'खूबसूरत' को 'बदसूरत' बना देने में सक्षम है। ऐसी तस्वीरों को देखकर तो व्यक्ति के वास्तविक रूप-सौंदर्य के आकलन में धोखा खा जाना बहुत हद तक संभव है। यह मनोवैज्ञानिक सच है कि आदमी कितना ही बदसूरत क्यों न हो, उसे अपनी अच्छी तस्वीर ही अच्छी लगती है, आईने में तो वह फिर भी अपना जैसा चेहरा है उसे स्वीकार कर अच्छी नजर से अपना अच्छा रूप ही देखता है, लेकिन अपनी तस्वीरों में किसी तरह का खोंटापन उसे बर्दाश्त नहीं। यहाँ यह भुला दिया जाता है कि आदमी न तस्वीर है और तस्वीर न आदमी। लेकिन लोग अपने से अधिक अपनी तस्वीरों का ख्याल रखते हैं। व्यक्तिगत जिंदगी कैसी भी क्यों न हो, पर अपनी तस्वीर तो अच्छी होनी चाहिए। एक क्षण की अच्छी तस्वीर को चिरस्थायी बनाने के लिए आदमी कितनी तैयारियाँ करता है, उस पल की तस्वीरों के माध्यम से अपनी दीर्घकालिक पहचान सुरक्षित रखना चाहता है, जो तस्वीर स्वाभाविक कम, बनावटी अधिक होती है। चिरस्थायी पहचान को धूमिल कर क्षणिक पहचान की स्थापना के निमित्त ही ये तैयार की जाती हैं। तस्वीरों का चुनाव में बड़ा महत्त्व है, चुनाव में विकास के साथ तस्वीरों का क्रमागत विकास कैसे किस रूप में होता रहा है—यह बड़े अनुसंधान का विषय है।

हैं। जनसाधारण की पूछ भी इसी वक्त होती है। बड़े घरानों, राजे-रजवाड़ों, रिसायतों व्यावसायिक प्रतिष्ठानों, सामंत-जमींदारों, अपराधियों के घर के लोग भी प्रत्याशी के नाते एक अदना व्यक्ति के सामने हाथ जोड़े खड़े मिल सकते हैं। जिनके लालायित होकर भी दर्शन सुलभ नहीं होते, वे आते हैं, हाथ जोड़ते हैं और बहुत कुछ करने का आश्वासन भी देते हैं। यहाँ संप्रदाय, जाति, क्षेत्र, लिंग, उम्र, पद आदि का अहं काम नहीं करता। वह खत्म हो जाता है, लेकिन अंदरखाने जातीय सांप्रदायिक ध्रुवीकरण भी पूरा चलता है और इसे भुनाने की कोशिश भी होती है। बाकी समय जिनसे मिलना मुश्किल, वे खुद चलकर मिलने आते हैं— इस समय लोकतंत्र बहुत हद तक सार्थक दिखता है। कई बार तो कई बड़े पदों पर रहे लोग जो अपनी धौंस और अकड़ के लिए जाने जाते रहे हैं, वे प्रत्याशी के रूप में मूल्यांकन के लिए सामने होते हैं। कुछएक ईमानदार, कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए ख्यात लोग जिनकी तस्वीर ही जनमानस में गहरी रागात्मकता उत्पन्न करती है, उनके साक्षात आगमन और दर्शन से लोग धन्य होते हैं। यह विचार करते हैं कि क्या वही यह शख्स है, जिसकी छवि हमारे मन-मानस में बैठी हुई थी। देखकर कई बार निराशा भी होती है और अनेक बार आशा भी जगती है। होता यह है कि कोई-कोई अपनी तस्वीर में बहुत अच्छा दिखता है, पर उसका साक्षात चेहरा उतना आकर्षक नहीं लगता, फलतः हमारी भावना को यहाँ ठेस लगती है। वहीं कई बार किसी-किसी की तस्वीर तो अच्छी नहीं होती, पर वह स्वयं आकर्षक दिखता है, ऐसे में पहले से जमा आकर्षण भाव में बढ़ोतरी होती है। हम उस तकनीक की बात यहाँ नहीं कर रहे, जो 'बदसूरत' को 'खूबसूरत' और 'खूबसूरत' को 'बदसूरत' बना देने में सक्षम है। ऐसी तस्वीरों को देखकर तो व्यक्ति के वास्तविक रूप-सौंदर्य के आकलन में धोखा खा जाना बहुत हद तक संभव है। यह मनोवैज्ञानिक सच है कि आदमी कितना ही बदसूरत क्यों न हो, उसे अपनी अच्छी तस्वीर ही अच्छी लगती है, आईने में तो वह फिर भी अपना जैसा चेहरा है उसे स्वीकार कर अच्छी नजर से अपना अच्छा रूप ही देखता है, लेकिन अपनी तस्वीरों में किसी तरह का खोंटापन उसे बर्दाश्त नहीं। यहाँ यह भुला दिया जाता है कि आदमी न तस्वीर है और तस्वीर न आदमी। लेकिन लोग अपने से अधिक अपनी तस्वीरों का ख्याल रखते हैं। व्यक्तिगत जिंदगी कैसी भी क्यों न हो, पर अपनी तस्वीर तो अच्छी होनी चाहिए। एक क्षण की अच्छी तस्वीर को चिरस्थायी बनाने के लिए आदमी कितनी तैयारियाँ करता है, उस पल की तस्वीरों के माध्यम से अपनी दीर्घकालिक पहचान सुरक्षित रखना चाहता है, जो तस्वीर स्वाभाविक कम, बनावटी अधिक होती है। चिरस्थायी पहचान को धूमिल कर क्षणिक पहचान की स्थापना के निमित्त ही ये तैयार की जाती हैं। तस्वीरों का चुनाव में बड़ा महत्त्व है। चुनाव में विकास के साथ तस्वीरों का क्रमागत विकास कैसे किस रूप में होता रहा है—यह बड़े अनुसंधान का विषय है।

बात हम चुनावी रौनक की कर रहे हैं। यह चुनावी रौनक जिनके लिए होती होगी, उनके लिए होती होगी। हमने तो

इसकी शामत ही झेली है। नहीं, यह पूरा सच नहीं है, क्योंकि चुनाव में जिन लोगों की दिलचस्पी की बात ऊपर की गई है, उसके दायरे में बेशक अब हम अधिक नहीं आते, लेकिन पहले तो इनमें से अनेक भूमिकाओं को निभाते हुए चुनावी माहौल का खुशनुमा लुफ्त उठाया है। सिद्धांतत: इसकी चर्चा हो चुकी है। जैसा कि हम देखते हैं कि अनेक कर्मचारी व अधिकारी इस्तीफा देकर चुनाव लड़ते हैं, लेकिन किसी दल से संबंद्ध या प्रतिबद्ध अधिकारी-कर्मचारी की चुनाव में ड्यूटी लगा दी जाती है तब। क्या वह अपनी ड्यूटी का बेजा इस्तेमाल अपने दल के प्रति कर सकता है। लेकिन इस पर पैनी नजर भी होती है। जो करते होंगे, वे करते होंगे, लेकिन यह उचित नहीं कहा जा सकता। हमारी स्वतंत्रता पर पहला खलल यहीं पड़ता है, हम स्वतंत्र रूप से किसी पार्टी-विशेष के लिए काम क्या करेंगे–अपना वोट भी नहीं डाल सकते। यह आधुनिक लोकतांत्रिक निर्वाचन प्रणाली पर गंभीर प्रश्न-चिन्ह है कि चुनाव में ड्यूटी करने वाले अधिकारी, कर्मचारी, सुरक्षाकर्मी जो करोड़ों की संख्या में हैं, उन्हें सामान्यत: सीधे मतदान से वंचित कर दिया जाता है। पूरी राजनीतिक रुचि के बावजूद मतदान से वंचित रहना दुखद है। यह वह वर्ग है, जो सरकार की नीतियों को कार्यान्वित भी करता है और उसका प्रमुख भोक्ता भी है।

चुनाव में विभिन्न स्तरों पर जितनी भूमिकाएँ हो सकती हैं, निचले स्तर पर थोड़ी-बहुत मात्रा में समय-समय सारी भूमिकाओं के निर्वाह का अवसर मिला है–प्रत्याशी, प्रचारक, पोलिंग एजेंट, मतदाता– यही तो प्रमुख भूमिका है। लेकिन फिलहाल इसे छोड़कर केवल चुनाव अधिकारी वाली भूमिका की बात की जाए। अब तक तीन बार चुनाव अधिकारी बनने का मौका आया है, लेकिन तीनों बार पहले बेमन से, लेकिन बाद में पूरे उत्साह से कार्य किया है। इनमें से

चुनावी ड्यूटी से पूर्व दो-तीन बार जिला मुख्यालय पर बुलाकर प्रशिक्षण दिया जाता है। तमाम प्रगतियों, विकास के दावों और तकनीक के आने के बावजूद भी यदि ईवीएम मशीन को छोड़ दिया जाए, तो चुनाव कराने के लिए जो 'बोड़ा' या 'कट्टा' दिया जाता है, उसकी मूलाधार सामग्री बाबा आदम के जमाने की ही होती है। चुनाव कराने का तरीका नितांत रूढ़िग्रस्त, परंपरागत और उबाऊ है। कट्टा, बोड़ा और उसके भीतर की चुनाव सामग्री को आधुनिकतम बनाने की नितांत आवश्यकता है।

एक बार टाला जा सकता था, पर दो बार टालने में मुश्किल होती। कॉलेज छात्र संघ का मुख्य चुनाव अधिकारी बनने से बचा जा सकता था, हालाँकि यह घटना, परिस्थिति और अपनी काबिलियत वाली चुनौती को परखने की दृष्टि से अनैतिक ही होता, लेकिन यह कार्य न करने से कानूनी अड़चन नहीं आती। सबसे जूनियर प्रवक्ता जिसकी नियुक्ति के दो-तीन दिन ही हुए थे, वह भी अनजान जगह में। तमाम विवादों-समस्याओं के बीच इस काम को करने की कई बाध्यता नहीं थी, लेकिन किया, हालाँकि यही चुनाव अधिकारी बनना नौकरी के लिए अनौपचारिक रूप से घातक साबित हुआ। जिंदगी में पहली बार 'अपने नाम के साथ मुर्दाबाद का नारा' भी सुना और प्रशासन से तीखी तकरार भी की।

दूसरी चुनाव ड्यूटी सन् 2004 के लोकसभा चुनाव में लगी। इसके कारण मतदाता बनने के बाद पहली बार चुनाव में मतदान करने से वंचित रहा। कहाँ दूसरों को मतदान के लिए प्रेरित करता था और खुद मतदान नहीं कर पाया। लेकिन यही नियम है। इस चुनाव में मैं पीठासीन अधिकारी बना। उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले के चाँदपुर के रहमानियाँ इंटर कॉलेज में ड्यूटी थी। हमारे ही वेतनमान वालों की ड्यूटी सेक्टर मजिस्ट्रेट और उससे ऊपर लगती है। सवाल किस रूप में ड्यूटी करें–इसका नहीं है। मूल प्रश्न यह है कि अफसरशाही इतनी हावी रहती है कि ग्रेजुएट अधिकारी को तो ऊँचे ओहदे का मानती है, लेकिन पीएचडी, एम.ए. पास स्नातक-स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ाने वाले शिक्षकों-प्रवक्ताओं को अपने से

कमतर दर्शाती है। यह प्रशासनिक स्तर पर समाज में शिक्षक के गिराते सम्मान का सूचक है। चुनावी समय में ये अफसर प्राध्यापक की तरह शिक्षकों को छात्र मानकर प्रशिक्षण नहीं देते, वरन् अपना धौंस भी दिखाते हैं। इस ड्यूटी में गैर-हाजिर होने पर सीधे एफ.आई.आर दर्ज होता है। जेल और विभागीय कार्यवाही का प्रावधान है। चुनावी ड्यूटी से पूर्व दो-तीन बार जिला मुख्यालय पर बुलाकर प्रशिक्षण दिया जाता है। तमाम प्रगतियों, विकास के दावों और तकनीक के आने के बावजूद भी यदि ईवीएम मशीन को छोड़ दिया जाए, तो चुनाव कराने के लिए जो 'बोड़ा' या 'कट्टा' दिया जाता है, उसकी मूलाधार सामग्री बाबा आदम के जमाने की ही होती है। चुनाव कराने का तरीका नितांत रूढ़िग्रस्त, परंपरागत और उबाऊ है। कट्टा, बोड़ा और उसके भीतर की चुनाव सामग्री को आधुनिकतम बनाने की नितांत आवश्यकता है।

चुनाव से एक दिन पहले सुबह छः बजे जिला मुख्यालय पर बुलाया जाता है, जहाँ गोपनीय सामग्री और मशीन आदि दी जाती है। यह पीठासीन अधिकारी को ही मिलती है। सेक्टर मजिस्ट्रेट और चुनाव कराने वाली टीम से परिचय भी उसी समय होता है। जब तक टीम का एक भी आदमी गैर हाजिर है, तब तक मतदान स्थल के लिए रवाना नहीं हो सकते। यहीं पता चलता है कि बस से जाना है या ट्रक से और कहाँ जाना है? जहाँ जाना है, वहाँ की व्यवस्था यदि स्थानीय लोगों का अनौपचारिक सहयोग न हो तो प्रशासन

लोकतंत्र के इस कार्य व्यवहार में भागीदारी नहीं की थी, सो किया– उत्साह से किया और बहुत कुछ वहीं जाकर सीखा जो इस ड्यूटी के वगैर अधूरा ही होता। यदि थोड़ी सुव्यवस्था हो तो चुनाव अधिकारी और कर्मचारी होकर चुनाव कराने का भी अपना मजा और आनंद है, लेकिन यह काम हर कोई नहीं कर सकता। अनपढ़, गँवार व्यक्ति प्रत्याशी तो बन सकते हैं, एमपी, एमएलए बन सकते हैं, पर चुनाव अधिकारी नहीं। चुनाव अधिकारी तो वही बनता है जो सरकारी-अर्द्धसरकारी अधिकारी-कर्मचारी हो।

कर ही नहीं पाता। फिर बस, ट्रक पर कुछ लोग पहले से ही होते हैं, जो शिक्षकीय संभ्रांत योग्यता से जलते हैं। वे आप से हिसाब चुकता कराने के लिए सीटें छेंक कर रखते हैं। इनमें पुलिसकर्मी होते हैं। दिन भर चुनाव कराकर कागजी कार्यवाही करके जिला मुख्यालय पर आना होता है। आते-आते आधी रात हो ही जाती है। चुनावी सामग्री, मशीन आदि जमा करना टेढ़ी खीर होता है, क्योंकि पूरे जिले के बूथों के कर्मचारियों व अन्य अधिकारियों के कारण काउंटर पर भीड़ जबर्दस्त होती है। इसलिए पूरी रात की कवायद हो जाती है। बड़े पैमाने पर चुनाव निरंतर होते रहने पर भी निचले स्तर पर चुनाव की समुचित-सुव्यवस्थित आधुनिकतम प्रणाली का अभाव चुनाव अधिकारी के नाते खटकता भी है और हैरान भी करता है, साथ ही उत्साह-उमंग को कम करता है। चुनावी ड्यूटी वाले को अलग से पैसा भी मिलता है, लेकिन हमें कभी नहीं मिला। लगता है, अफसर उसे डकार जाते हैं। जो भी हो, लोकतंत्र के इस कार्य व्यवहार में भागीदारी नहीं की थी, सो किया– उत्साह से किया और बहुत कुछ वहीं जाकर सीखा जो इस ड्यूटी के वगैर अधूरा ही होता। यदि थोड़ी सुव्यवस्था हो तो चुनाव अधिकारी और कर्मचारी होकर चुनाव कराने का भी अपना मजा और आनंद है, लेकिन यह काम हर कोई नहीं कर सकता। अनपढ़, गँवार व्यक्ति प्रत्याशी तो बन सकते हैं, एमपी, एमएलए बन सकते हैं, पर चुनाव अधिकारी नहीं। चुनाव अधिकारी तो वही बनता है जो सरकारी-अर्द्धसरकारी अधिकारी-कर्मचारी हो। ☆